5

eSaD;ksa fy[krk gw¡\

अज्ञेय

मैं क्यों लिखता हूँ? यह प्रश्न बड़ा सरल जान पड़ता है पर बड़ा कठिन भी है। क्योंकि इसका सच्चा उत्तर लेखक के आंतरिक जीवन के स्तरों से संबंध रखता है। उन सबको संक्षेप में कुछ वाक्यों में बाँध देना आसान तो नहीं ही है, न जाने सम्भव भी है या नहीं? इतना ही किया जा सकता है कि उनमें से कुछ का स्पर्श किया जाए—विशेष रूप से ऐसों का जिन्हें जानना दूसरों के लिए उपयोगी हो सकता है।

एक उत्तर तो यह है कि मैं इसीलिए लिखता हूँ कि स्वयं जानना चाहता हूँ कि क्यों लिखता हूँ-लिखे बिना इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सकता है। वास्तव में सच्चा उत्तर यही है। लिखकर ही लेखक उस आभ्यंतर[1] विवशता को पहचानता है जिसके कारण उसने लिखा—और लिखकर ही वह उससे मुक्त हो जाता है। मैं भी उस आंतरिक विवशता से मुक्ति पाने के लिए, तटस्थ होकर उसे देखने और पहचान लेने के लिए लिखता हूँ। मेरा विश्वास है कि सभी कृतिकार—क्योंकि सभी लेखक कृतिकार नहीं होते; न उनका सब लेखन ही कृति होता है—सभी कृतिकार इसीलिए लिखते हैं। यह ठीक है कि कुछ ख्याति मिल जाने के बाद कुछ बाहर की विवशता से भी लिखा जाता है-संपादकों के आग्रह से, प्रकाशक के तकाजे से, आर्थिक आवश्यकता से। पर एक तो कृतिकार हमेशा अपने सम्मुख ईमानदारी से यह भेद बनाए रखता है कि कौन-सी कृति भीतरी प्रेरणा का फल है, कौन-सा लेखन बाहरी दबाव का, दूसरे यह भी होता है कि बाहर का दबाव वास्तव में दबाव नहीं रहता, वह मानो भीतरी उन्मेष[2] का निमित्ति[3] बन जाता है।

1. भीतर का, अंदरुनी 2. प्रकाश, दीप्ति 3. कारण

यहाँ पर कृतिकार के स्वभाव और आत्मानुशासन का महत्त्व बहुत होता है। कुछ ऐसे आलसी जीव होते हैं कि बिना इस बाहरी दबाव के लिख ही नहीं पाते—इसी के सहारे उनके भीतर की विवशता स्पष्ट होती है—यह कुछ वैसा ही है जैसे प्रात:काल नींद खुल जाने पर कोई बिछौने पर तब तक पड़ा रहे जब तक घड़ी का एलार्म न बज जाए। इस प्रकार वास्तव में कृतिकार बाहर के दबाव के प्रति समर्पित नहीं हो जाता है, उसे केवल एक सहायक यंत्र की तरह काम में लाता है जिससे भौतिक यथार्थ के साथ उसका संबंध बना रहे। मुझे इस सहारे की ज़रूरत नहीं पड़ती लेकिन कभी उससे बाधा भी नहीं होती। उठने वाली तुलना को बनाए रखूँ तो कहूँ कि सबेरे उठ जाता हूँ अपने आप ही, पर अलार्म भी बज जाए तो कोई हानि नहीं मानता।

यह भीतरी विवशता क्या होती है? इसे बखानना बड़ा कठिन है। क्या वह नहीं होती यह बताना शायद कम कठिन होता है। या उसका उदाहरण दिया जा सकता है—कदाचित् वही अधिक उपयोगी होगा। अपनी एक कविता की कुछ चर्चा करूँ जिससे मेरी बात स्पष्ट हो जाएगी।

मैं विज्ञान का विद्यार्थी रहा हूँ, मेरी नियमित शिक्षा उसी विषय में हुई। अणु क्या होता है, कैसे हम रेडियम-धर्मी तत्वों का अध्ययन करते हुए विज्ञान की उस सीढ़ी तक पहुँचे जहाँ अणु का भेदन संभव हुआ, रेडियम-धर्मिता के क्या प्रभाव होते हैं—इन सबका पुस्तकीय या सैद्धांतिक ज्ञान तो मुझे था। फिर जब वह हिरोशिमा में अणु-बम गिरा, तब उसके समाचार मैंने पढ़े; और उसके परवर्ती प्रभावों का भी विवरण पढ़ता रहा। इस प्रकार उसके प्रभावों का ऐतिहासिक प्रमाण भी सामने आ गया। विज्ञान के इस दुरुपयोग के प्रति बुद्धि का विद्रोह स्वाभाविक था, मैंने लेख आदि में कुछ लिखा भी पर अनुभूति के स्तर पर जो विवशता होती है वह बौद्धिक पकड़ से आगे की बात है और उसकी तर्क संगति भी अपनी अलग होती है। इसलिए कविता मैंने इस विषय में नहीं लिखी। यों युद्धकाल में भारत की पूर्वीय सीमा पर देखा था कि कैसे सैनिक ब्रह्मपुत्र में बम फेंक कर हज़ारों मछलियाँ मार देते थे। जबकि उन्हें आवश्यकता थोड़ी-सी होती थी, और जीव के इस अपव्यय से जो व्यथा भीतर उमड़ी थी, उससे एक सीमा तक अणु-बम द्वारा व्यर्थ जीव-नाश का अनुभव तो कर ही सका था।

जापान जाने का अवसर मिला, तब हिरोशिमा भी गया और वह अस्पताल भी देखा जहाँ रेडियम-पदार्थ से आहत लोग वर्षों से कष्ट पा रहे थे। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव भी हुआ—पर अनुभव से अनुभूति गहरी चीज़ है, कम-से-कम कृतिकार के लिए। अनुभव तो घटित का होता है, पर अनुभूति संवेदना और कल्पना के सहारे उस सत्य को आत्मसात् कर लेती है जो वास्तव में कृतिकार के साथ घटित नहीं हुआ है। जो आँखों के सामने

नहीं आया, जो घटित के अनुभव में नहीं आया, वही आत्मा के सामने ज्वलंत प्रकाश में आ जाता है, तब वह अनुभूति-प्रत्यक्ष हो जाता है।

तो हिरोशिमा में सब देखकर भी तत्काल कुछ लिखा नहीं, क्योंकि इसी अनुभूति प्रत्यक्ष की कसर थी। फिर एक दिन वहीं सड़क पर घूमते हुए देखा कि एक जले हुए पत्थर पर एक लंबी उजली छाया है–विस्फोट के समय कोई वहाँ खड़ा रहा होगा और विस्फोट से बिखरे हुए रेडियम-धर्मी पदार्थ की किरणें उसमें रुद्ध[4] हो गई होंगी–जो आस-पास से आगे बढ़ गईं उन्होंने पत्थर को झुलसा दिया, जो उस व्यक्ति पर अटकीं उन्होंने उसे भाप बनाकर उड़ा दिया होगा। इस प्रकार समूची ट्रेजडी जैसे पत्थर पर लिखी गई।

4. बंद हो गई, फँस गई

उस छाया को देखकर जैसे एक थप्पड़-सा लगा। अवाक् इतिहास जैसे भीतर कहीं सहसा एक जलते हुए सूर्य-सा उग आया और डूब गया। मैं कहूँ कि उस क्षण में अणु-विस्फोट मेरे अनुभूति-प्रत्यक्ष में आ गया—एक अर्थ में मैं स्वयं हिरोशिमा के विस्फोट का भोक्ता बन गया।

इसी में से वह विवशता जागी। भीतर की आकुलता बुद्धि के क्षेत्र से बढ़कर संवेदना के क्षेत्र में आ गई...फिर धीरे-धीरे मैं उससे अपने को अलग कर सका और अचानक एक दिन मैंने हिरोशिमा पर कविता लिखी—जापान में नहीं, भारत लौटकर, रेलगाड़ी में बैठे-बैठे।

यह कविता अच्छी है या बुरी; इससे मुझे मतलब नहीं है। मेरे निकट वह सच है, क्योंकि वह अनुभूति-प्रसूत[5] है, यही मेरे निकट महत्त्व की बात है।

प्रश्न-अभ्यास

1. लेखक के अनुसार प्रत्यक्ष अनुभव की अपेक्षा अनुभूति उनके लेखन में कहीं अधिक मदद करती है, क्यों?
2. लेखक ने अपने आपको हिरोशिमा के विस्फोट का भोक्ता कब और किस तरह महसूस किया?
3. **मैं क्यों लिखता हूँ?** के आधार पर बताइए कि—
   (क) लेखक को कौन-सी बातें लिखने के लिए प्रेरित करती हैं?
   (ख) किसी रचनाकार के प्रेरणा स्रोत किसी दूसरे को कुछ भी रचने के लिए किस तरह उत्साहित कर सकते हैं?
4. कुछ रचनाकारों के लिए आत्मानुभूति/स्वयं के अनुभव के साथ-साथ बाह्य दबाव भी महत्त्वपूर्ण होता है। ये बाह्य दबाव कौन-कौन से हो सकते हैं?
5. क्या बाह्य दबाव केवल लेखन से जुड़े रचनाकारों को ही प्रभावित करते हैं या अन्य क्षेत्रों से जुड़े कलाकारों को भी प्रभावित करते हैं, कैसे ?
6. हिरोशिमा पर लिखी कविता लेखक के अंत: व बाह्य दोनों दबाव का परिणाम है यह आप कैसे कह सकते हैं?
7. हिरोशिमा की घटना विज्ञान का भयानकतम दुरुपयोग है। आपकी दृष्टि में विज्ञान का दुरुपयोग कहाँ-कहाँ और किस तरह से हो रहा है।
8. एक संवेदनशील युवा नागरिक की हैसियत से विज्ञान का दुरुपयोग रोकने में आपकी क्या भूमिका है?

5. उत्पन्न

सन् 1959 में प्रकाशित **अरी ओ करुणा प्रभामय** काव्य-संग्रह में संकलित अज्ञेय की हिरोशिमा कविता यहाँ दी जा रही है–

हिरोशिमा

एक दिन सहसा
सूरज निकला
अरे क्षितिज पर नहीं,
नगर के चौक :
धूप बरसी
पर अंतरिक्ष से नहीं,
फटी मिट्टी से।

छायाएँ मानव-जन की
दिशाहीन
सब ओर पड़ीं–वह सूरज
नहीं उगा था पूरब में, वह
बरसा सहसा
बीचों-बीच नगर के :
काल-सूर्य के रथ के
पहियों के ज्यों अरे टूट कर
बिखर गए हों
दसों दिशा में।

कुछ क्षण का वह उदय-अस्त!
केवल एक प्रज्वलित क्षण की
दृश्य सोख लेने वाली दोपहरी।
फिर?
छायाएँ मानव-जन की
नहीं मिटीं लंबी हो-हो कर :
मानव ही सब भाप हो गए।
छायाएँ तो अभी लिखी हैं
झुलसे हुए पत्थरों पर
उजड़ी सड़कों की गच पर।

मानव का रचा हुआ सूरज
मानव को भाप बनाकर सोख गया।
पत्थर पर लिखी हुई यह
जली हुई छाया
मानव की साखी है।